श्रीमद्भागवतम्

स्कन्ध 3

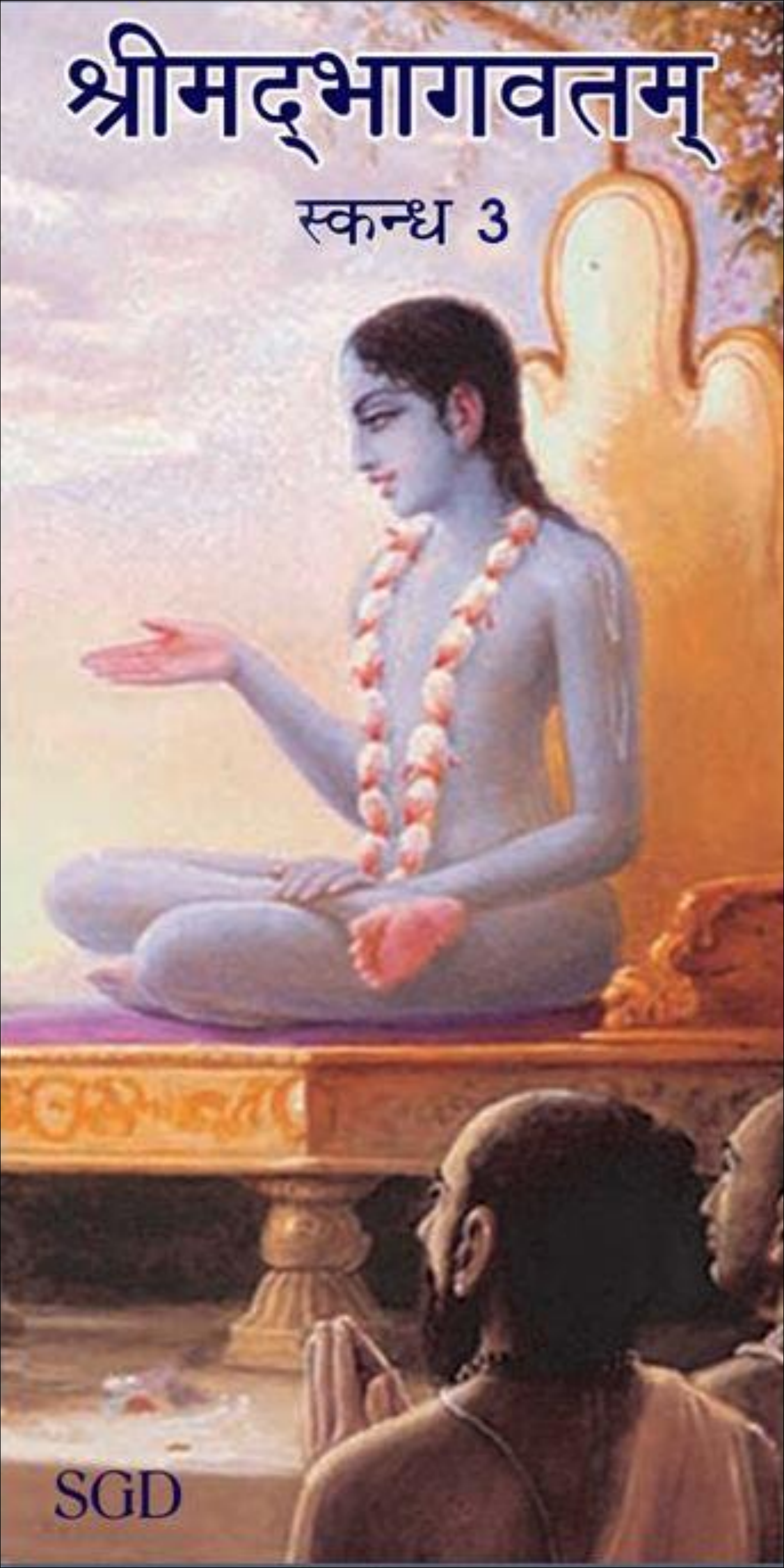

SGD

श्रीमद् भागवत पुराण

अध्याय 27

प्रकृति का ज्ञान

श्रीलगुरुदेव

श्लोक 1: भगवान् कपिल ने आगे कहा : जिस प्रकार सूर्य जल पर पडऩे वाले प्रतिबिम्ब से भिन्न रहा आता है उसी तरह जीवात्मा शरीर में स्थित होकर भी प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहता है, क्योंकि वह अपरिवर्तित रहता है और किसी प्रकार का इन्द्रियतुष्टि का कर्म नहीं करता।

श्लोक 2: जब आत्मा प्रकृति के जादू तथा अहंकार के वशीभूत होता है और शरीर को स्व (आत्मा) मान लेता है, तो वह भौतिक कार्यकलापों में लीन रहने लगता है और अहंकारवश सोचता है कि मैं ही प्रत्येक वस्तु का कर्ता हूँ।

श्लोक 3: अत: बद्धजीव भौतिक प्रकृति के गुणों के साथ अपनी संगति के कारण उच्चतर तथा निम्नतर विभिन्न योनियों में देहान्तर करता रहता है। जब तक वह भौतिक कार्यों से मुक्त नहीं हो लेता उसे अपने

दोषपूर्ण कार्य के फलस्वरूप यह स्थिति स्वीकार करते रहनी पड़ती है।

श्लोक 4: वास्तव में जीवात्मा इस संसार से परे है, किन्तु प्रकृति पर अधिकार जताने की अपनी मनोवृत्ति के कारण उसके संसार-चक्र की स्थिति कभी रुकती नहीं और वह सभी प्रकार की अलाभकर स्थितियों से प्रभावित होता है, जिस प्रकार कि स्वप्न में होता है।

श्लोक 5: प्रत्येक बद्धजीव का कर्तव्य है कि वह भौतिक सुखोपभोग के प्रति आसक्त अपनी दूषित चेतना

को विरक्तिपूर्वक अत्यन्त गभ्भीर भक्ति में लगावे। इस प्रकार उसका मन तथा चेतना पूरी तरह वश में हो जाएँगे।

श्लोक 6: मनुष्य को योग पद्धति की संयम आदि विधियों के अभ्यास द्वारा श्रद्धालु बनना चाहिए और मेरे कीर्तन तथा श्रवण द्वारा अपने आपको शुद्ध भक्ति के पद तक ऊपर उठाना चाहिए।

श्लोक 7: भक्तिमय सेवा सम्पन्न करने में मनुष्य को प्रत्येक जीव को समभाव से एवं किसी के प्रति

शत्रुतारहित होते हुए घनिष्ठता से रहित होकर देखना होता है। उसे ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना होता है, गम्भीर होना होता है और कर्म फलों को भगवान् को अर्पित करते हुए अपने नित्य कर्म करने होते हैं।

श्लोक 8: भक्त को चाहिए कि बहुत कठिनाई के बिना जो कुछ वह कमा सके उसी से सन्तुष्ट रहे। जितना आवश्यक हो उससे अधिक उसे नहीं खाना चाहिए। उसे एकान्त स्थान में रहना चाहिए और सदैव विचारवान,

शान्त, मैत्रीपूर्ण, उदार तथा स्वरूपसिद्ध होना चाहिए।

श्लोक 9: मनुष्य को आत्मा तथा पदार्थ के ज्ञान के द्वारा देखने की शक्ति बढ़ानी चाहिए और उसे व्यर्थ ही शरीर के रूप में अपनी पहचान नहीं करनी चाहिए, अन्यथा वह शारीरिक सम्बन्धों खिंचा चला जाएगा।

श्लोक 10: मनुष्य को भौतिक चेतना की अवस्थाओं से परे दिव्य स्थिति में रहना चाहिए और अन्य समस्त जीवन-बोधों से विलग रहना चाहिए। इस प्रकार अहंकार से मुक्त

होकर उसे अपने आपको उसी तरह देखना चाहिए जिस प्रकार वह आकाश में सूर्य को देखता है।

श्लोक 11: मुक्त जीव को उस परमेश्वर का साक्षात्कार होता है, जो दिव्य है और अहंकार में भी प्रतिबिम्बि के रूप में प्रकट होता है। वे भौतिक कारण के आधार हैं तथा प्रत्येक वस्तु में प्रवेश करने वाले हैं। वे अद्वितीय हैं और माया के नेत्र हैं।

श्लोक 12: जिस प्रकार आकाश में स्थित सूर्य को सर्वप्रथम जल में पड़े प्रतिबिम्ब से और फिर कमरे की

दीवाल पर पड़े दूसरे प्रतिबिम्ब से देखा जाता है, उसी तरह परमेश्वर की उपस्थिति महसूस की जाती है।

श्लोक 13: इस प्रकार स्वरूपसिद्ध आत्मा सर्वप्रथम त्रिविध अहंकार में और तब शरीर, इन्द्रियों एवं मन में प्रतिबिम्बित होता है।

श्लोक 14: यद्यपि ऐसा लगता है भक्त पाँचों तत्त्वों, भोग की वस्तुओं, इन्द्रियों तथा मन और बुद्धि में लीन है, किन्तु वह जागृत रहता है और अंधकार से रहित होता है।

श्लोक 15: जीवात्मा स्पष्ट रूप से द्रष्टा के रूप में अपने अस्तित्व का अनुभव कर सकता है, किन्तु प्रगाढ़ निद्रा के समय अहंकार के दूर हो जाने के कारण वह अपने को उस तरह विनष्ट हुआ मान लेता है, जिस प्रकार सम्पत्ति के नष्ट होने पर मनुष्य अपने को विनष्ट हुआ समझता है।

श्लोक 16: जब मनुष्य परिपक्व ज्ञान के द्वारा अपने व्यक्तित्व का अनुभव करता है, तो अहंकारवश वह जिस स्थिति को स्वीकार करता है, वह उसे प्रकट हो जाती है।

श्लोक 17: श्री देवहूति ने पूछा : हे ब्राह्मण, क्या कभी प्रकृति आत्मा का परित्याग करती है? चूँकि इनमें से कोई एक दूसरे के प्रति शाश्वत रूप से आकर्षित रहता है, तो उनका पृथकत्व (वियोग) कैसे सम्भव है?

श्लोक 18: जिस प्रकार पृथ्वी तथा इसकी गन्ध या जल तथा इसके स्वाद का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं होता उसी तरह बुद्धि तथा चेतना का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं हो सकता।

श्लोक 19: अत: समस्त कर्मों का कर्ता न होते हुए भी जीव तब तक

कैसे स्वतन्त्र हो सकता है जब तक प्रकृति उस पर अपना प्रभाव डालती रहती है और उसे बाँधे रहती है।

श्लोक 20: यदि चिन्तन तथा मूल सिद्धान्तों की जाँच-परख से बन्धन के महान् भय से बच भी लिया जाय तो भी यह पुन: प्रकट हो सकता है, क्योंकि इसके कारण का अन्त नहीं हुआ होता है।

श्लोक 21: भगवान् ने कहा : यदि कोई गम्भीरतापूर्वक मेरी सेवा करता है और दीर्घकाल तक मेरे विषय में या मुझसे सुनता है, तो वह

मुक्ति पा सकता है। इस प्रकार अपने-अपने नियत कार्यों के करने से कोई प्रतिक्रिया नहीं होगी और मनुष्य पदार्थ के कल्मष से मुक्त हो जाएगा।

श्लोक 22: यह भक्ति दृढ़तापूर्वक पूर्ण ज्ञान से तथा दिव्य दृष्टि से सम्पन्न करनी चाहिए। मनुष्य को प्रबल रूप से विरक्त होना चाहिए, तपस्या में लगना चाहिए और आत्मलीन होने के लिए योग करना चाहिए।

श्लोक 23: प्रकृति के प्रभाव ने जीवात्मा को ढक कर रखा है मानो जीवात्मा सदैव प्रज्ज्वलित अग्नि में रह रहा हो। किन्तु भक्ति करने से यह प्रभाव उसी प्रकार दूर किया जाता सकता है, जिस प्रकार अग्नि उत्पन्न करने वाले काष्ठ-खण्ड स्वयं भी अग्नि द्वारा भस्म हो जाते हैं।

श्लोक 24: प्रकृति पर अधिकार जताने की इच्छा के दोषों को ज्ञात करके और फलस्वरूप उस इच्छा को त्याग करके जीवात्मा स्वतन्त्र हो

जाता है और अपनी कीर्ति में स्थित हो जाता है।

श्लोक 25: स्वप्नावस्था में मनुष्य की चेतना प्राय: ढकी रहती है और उसे अनेक अशुभ वस्तुएँ दिखती हैं, किन्तु उसके जगने पर तथा पूर्ण चेतन होने पर ऐसी अशुभ वस्तुएँ उसे विभ्रमित नहीं कर सकतीं।

श्लोक 26: प्रकृति का प्रभाव किसी प्रबुद्ध मनुष्य को हानि नहीं पहुँचा सकता, भले ही वह भौतिक कार्यकलापों में ही व्यस्त क्यों न रहता हो, क्योंकि वह परम सत्य की

सच्चाई को जानता है और उसका मन भगवान् में ही स्थिर रहता है।

श्लोक 27: मनुष्य जब इस तरह अनेकानेक वर्षों तथा अनेक जन्मों तक भक्ति एवं आत्म- साक्षात्कार में लगा रहता है, तो उसे किसी भी लोक में, यहाँ तक कि सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक में भी भोग से पूर्ण विरक्ति हो जाती है और उसमें चेतना पूर्णतया विकसित हो जाती है।

श्लोक 28-29: मेरा भक्त मेरी असीम अहैतुकी कृपा से वस्तुत: स्वरूपसिद्ध हो जाता है और इस

तरह समस्त संशयों से मुक्त होकर वह अपने गन्तव्य धाम की ओर अग्रसर होता है, जो मेरी शुद्ध आनन्द की आध्यात्मिक शक्ति के अधीन है। जीव का यही चरम सिद्धि- गन्तव्य (स्व-संस्थान) है। इस शरीर को त्यागने के बाद योगी भक्त उस दिव्य धाम को जाता है जहाँ से वह फिर कभी नहीं लौटता।

श्लोक 30: जब सिद्ध योगी का ध्यान योगशक्ति की गौण वस्तुओं की ओर, जो बहिरंगा शक्ति के प्राकट्य हैं, आकृष्ट नहीं होता तब मेरी ओर

उसकी प्रगति असीमित होती है और इस तरह उसे मृत्यु कभी भी परास्त नहीं कर सकती।

* * * * * * *

श्रीलगुरुदेव